रवींद्रनाथ टैगोर

QDHUJX

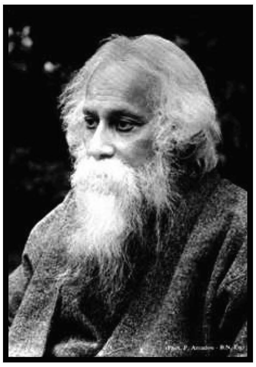

रवींद्रनाथ टैगोर का जन्म बंगाल के प्रसिद्ध टैगोर वंश में 1861 ई० में कोलकाता में हुआ था । उनके पिता महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर थे । टैगोर परिवार अपनी समृद्धि, कला, विद्या एवं संगीत के लिए संपूर्ण बंगाल में प्रसिद्ध था । वे अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे । उन्होंने अपने यश से न केवल टैगोर परिवार, वरन् संपूर्ण देश को गौरव प्रदान किया । टैगोर को सर्वप्रथम ऑरिएंटल सेमिनरी स्कूल में भर्ती किया गया, परंतु उनका मन वहाँ नहीं लगा । इस कारण उनको कुछ महीनों के बाद नॉर्मल स्कूल में दाखिला दिलाया गया । इस स्कूल में उन्हें कुछ कटु अनुभव प्राप्त हुए जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर उन्होंने आजीवन शिक्षा-सुधार के लिए प्रयास किया और आदर्श शिक्षा संस्था के रूप में 1901 ई० में 'शांति निकेतन' की स्थापना की जो आज 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' के नाम से प्रख्यात है ।

1878 में टैगोर अपने भाई के साथ उच्च शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैंड गए परंतु वहाँ अधिक दिनों तक नहीं रहे । 1880 ई० में वे स्वदेश लौटे । 1881 ई० में पुन: इंग्लैंड गए । वे वहाँ कानून की शिक्षा प्राप्त करने के ध्येय से गए थे परंतु विचार परिवर्तन के कारण पुन: वापस लौट आए ।

1901 में टैगोर ने बोलपुर के निकट शांति निकेतन की स्थापना की । उन्होंने इसमें स्वयं अध्यापक के रूप में कार्य किया । यह संस्थान आध्यात्मिक उदारता एवं विभिन्न संस्कृतियों के संगम-स्थल के रूप में दिन-प्रतिदिन उन्नति करता गया । 1919 ई० में जलियाँवाला बाग हत्याकांड के उपरांत औपनिवेशिक सत्ता से विक्षुब्ध होकर उन्होंने 'नाइट हुड' की उपाधि लौटा दी । वे साहित्य की सेवा अनवरत करते रहे और महान कवि और साहित्यकार के रूप में विश्वविख्यात हुए । 1913 ई० में उन्हें 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : **काव्यसंग्रह** - 'मानसी', 'सोनारतारी', 'चित्रा', 'चैताली', 'कल्पना', 'क्षणिक', 'गीतांजलि'; **उपन्यास** - 'गोरा'; **काव्य नाटक** - 'चित्रांगदा'; **कहानी संग्रह** - 'गल्प गुच्छ' । इन रचनाओं के अतिरिक्त शिक्षा, साहित्य, कला, संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर उनके अनेक लेख प्रकाशित और चर्चित हुए ।

टैगोर एक नैसर्गिक संगीतकार भी थे । उन्होंने अपनी सैंकड़ों कविताओं को संगीतबद्ध किया जिनमें से एक राष्ट्रगान के रूप में - जन गण मन... प्रमुख है । वे देश के प्रमुख चित्रकारों में से भी एक थे । 1941 ई० में इस महान कवि, मनीषी, साहित्यकार एवं शिक्षाशास्त्री का निधन हो गयाा ।

प्रस्तुत निबंध 'शिक्षा में हेर-फेर' हमारी शिक्षा-प्रणाली की खामियों को उजागर करता है तथा हमें शिक्षा और जीवन के गहरे सरोकारों से रू-ब-रू कराता है ।

शिक्षा में हेर-फेर

जो अत्यावश्यक है उसी में आबद्ध होकर रह जाना मानव-जीवन का धर्म नहीं है । आवश्यकताओं की शृंखला से हम किसी सीमा तक बद्ध हैं, लेकिन हम स्वाधीन भी हैं । हमारा शरीर साढ़े तीन हाथ में सीमित है, लेकिन उसके लिए साढ़े तीन हाथ का घर बनाने से काम नहीं चलेगा । चलने-फिरने के लिए यथेष्ट स्थान रखना जरूरी है, वरना हमारे स्वास्थ्य और आनंद दोनों में बाधा पड़ेगी । शिक्षा के विषय में भी यही बात लागू होती है । जो कम-से-कम जरूरी है वहीं तक शिक्षा को सीमित किया गया तो बच्चों के मन की वृद्धि नहीं हो सकेगी । आवश्यक शिक्षा के साथ स्वाधीनता के पाठ को मिलाना होगा, अन्यथा बच्चे की चेतना का विकास नहीं होगा । आयु बढ़ने पर भी बुद्धि की दृष्टि से वह सदा बालक ही रहेगा ।

लेकिन दुर्भाग्य से हमारे पास समय की कमी होती है । हम चाहते हैं कि जितना शीघ्र हो सके, विदेशी भाषा सीखकर, इम्तहान पास करके काम में जुट जाएँ । इसलिए बचपन से ही हाँफते-हाँफते, दाएँ-बाएँ न देखकर जल्दी-जल्दी सबक याद करने के अलावा और कुछ करने का हमारे पास समय नहीं होता । बच्चों के हाथ में यदि कोई मनोरंजन की पुस्तक दिखाई पड़ी तो वह फौरन छीन ली जाती है ।

परिणामस्वरूप, हमारे बच्चों को व्याकरण, शब्दकोश, भूगोल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता - उनके भाग्य में अन्य पुस्तकें नहीं हैं । दूसरे देशों के बालक जिस आयु में अपने नए दाँतों से बड़े आनंद के साथ गन्ना चबाते हैं, उसी आयु में हमारे बच्चे स्कूल की बेंच पर अपनी दो दुबली-पतली टाँगों को हिलाते हुए मास्टर के बेंत हजम करते हैं और उसके साथ उन्हें कड़वी गालियों के अलावा दूसरा कोई मसाला भी नहीं मिलता है ।

इससे उनकी मानसिक पाचन-शक्ति का ह्रास होता है । जिस तरह भारत की संतानों का शरीर उपयुक्त आहार और खेल-कूद के अभाव से कमजोर रह जाता है उसी तरह उनके मन का पाकाशय भी अपरिणत रह जाता है ।

हमारी शिक्षा में बाल्यकाल से ही आनंद के लिए स्थान नहीं होता । जो नितांत आवश्यक है उसी को हम कंठस्थ करते हैं । इससे काम तो किसी-न-किसी तरह चल जाता है, लेकिन हमारा विकास नहीं होता । हवा से पेट नहीं भरता - पेट तो भोजन से ही भरता है । लेकिन भोजन को ठीक से हजम करने के लिए हवा आवश्यक है । वैसे ही, एक 'शिक्षा पुस्तक' को अच्छी तरह

पचाने के लिए बहुत-सी पाठ्यसामग्री की सहायता जरूरी है । आनंद के साथ पढ़ते रहने से पठन-शक्ति भी अलक्षित रूप से बढ़ती है; सहज-स्वाभाविक नियम से ग्रहण-शक्ति, धारणा-शक्ति और चिंता-शक्ति भी सबल होती है ।

लेकिन मानसिक शक्ति का ह्रास करने वाली इस निरानंद शिक्षा से हमें कैसे छुटकारा मिलेगा कुछ समझ में नहीं आता ।

अंग्रेजी विदेशी भाषा है । शब्द-विन्यास और पद-विन्यास की दृष्टि से हमारी भाषा के साथ उसका कोई सामंजस्य नहीं । भावपक्ष और विषय-प्रसंग भी विदेशी होते हैं । शुरू से आखिर तक सभी अपरिचित चीजें हैं, इसलिए धारणा उत्पन्न होने से पहले ही हम रटना आरंभ कर देते हैं । फल वही होता है जो बिना चबाया अन्न निगलने से होता है । शायद बच्चों की किसी 'रीडर' में Hay-making का वर्णन है । अंग्रेज बालकों के लिए यह एक सुपरिचित चीज है और उन्हें इस वर्णन से आनंद मिलता है । Snowball से खेलते हुए Charlie का Katie से कैसे झगड़ा हुआ यह भी अंग्रेज बच्चे के लिए कुतूहलजनक घटना है । लेकिन हमारे बच्चे जब विदेशी भाषा में यह सब पढ़ते हैं तब उनके मन में कोई स्मृति जागृत नहीं होती, उनके सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं होता । अंधभाव से उनका मन अर्थ को टटोलता रह जाता है ।

नीचे के दर्जों को जो मास्टर पढ़ाते हैं उनमें कोई एंट्रेंस पास है, तो कोई एंट्रेंस फेल। अंग्रेजी भाषा, भाव, आचार, व्यवहार, साहित्य - किसी से वे परिचित नहीं हैं । और उन्हीं के हाथों हमारा अंग्रेजी के साथ प्रथम परिचय होता है । वे न तो स्वदेशी भाषा अच्छी तरह जानते हैं, न अंग्रेजी । उन्हें बस यही सुविधा है कि बच्चों को पढ़ाने की तुलना में उनका मन बहलाना बहुत आसान है । इस कार्य में वे पूरी तरह सफल होते हैं ।

तो फिर बच्चों के भाग्य में बाकी क्या रहा ? यदि वे केवल संस्कृत सीखते तो रामायण-महाभारत पढ़ लेते; यदि कुछ भी न सीखते तो उन्हें खेल-कूद के लिए अवकाश मिलता - पेड़ पर चढ़ते, पानी में डुबकियाँ लगाते, फूल तोड़ते, प्रकृति-जननी को हजार शरारतों से तंग करते; उनका शरीर पुष्ट और मन प्रफुल्ल होता; उनकी बाल्य प्रकृति को तृप्ति मिलती । लेकिन अंग्रेजी पढ़ने के प्रयास में न वे सीखते हैं, न खेलते हैं, प्रकृति के सत्यराज्य में प्रवेश करने के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता, साहित्य के कल्पना-राज्य का द्वार उनके लिए अवरुद्ध रह जाता है । मनुष्य के अंदर और बाहर दो उन्मुक्त विहार-क्षेत्र हैं, जहाँ से वह जीवन, बल और स्वास्थ्य का संचय करता है । जहाँ नाना वर्ण-रूप-गंध, विचित्र गति और संगीत, प्रीति और उल्लास उसे सर्वांगचेतन और विकसित करते हैं । इन दोनों मातृभूमियों से निर्वासित करके अभागे बालकों को एक विदेशी कारागृह में बंद कर दिया जाता है । जिनके लिए ईश्वर ने माता-पिता के हृदय में स्नेह का संचार किया है, जिनके लिए माता की गोद को कोमलता प्रदान की गई है, जो आकार में छोटे होते हुए भी घर-भर की सारी जगह को अपने खेल के लिए यथेष्ट नहीं समझते, ऐसे बालकों को अपना बचपन कहाँ काटना पड़ता है ? विदेशी भाषा के व्याकरण और

शब्दकोश में; जिसमें जीवन नहीं, आनंद नहीं, अवकाश या नवीनता नहीं, जहाँ हिलने-डुलने का स्थान नहीं, ऐसी शिक्षा की शुष्क, कठोर, संकीर्णता में । इससे क्या बालक कभी मानसिक शक्ति, चित्त का प्रसार या चरित्र की बलिष्ठता प्राप्त कर सकता है ? क्या वह फीका, रक्तहीन, दुबला और अविकसित नहीं रहेगा ? क्या वह बड़ा होने पर अपनी बुद्धि से कुछ निर्माण कर सकेगा, अपनी शक्ति से बाधाओं का अतिक्रमण कर सकेगा, अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक उन्नत कर सकेगा ? क्या वह केवल रटना, नकल करना और दूसरों की गुलामी करना ही नहीं सीखेगा ?

चिंता-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों जीवन-यात्रा संपन्न करने के लिए अत्यावश्यक हैं, इसमें संदेह नहीं । यदि हमें वास्तव में मनुष्य होना है तो इन दोनों को जीवन में स्थान देना होगा। इसलिए यदि बाल्यकाल से ही चिंतन और कल्पना पर ध्यान न दिया गया तो काम पड़ने पर उनका अभाव दुखदायी सिद्ध होगा ।

हमारी शिक्षा में पढ़ने की क्रिया के साथ-साथ सोचने की क्रिया नहीं होती । हम ढेर-का-ढेर जमा करते हैं पर कुछ निर्माण नहीं करते । ईंट-पत्थर, बालू-चूना पहाड़ की तरह जमा करते हैं, और इसी समय हुक्म होता है : 'एक तिमंजिला मकान बनाओ !' उपकरणों का स्तूप खड़ा हो जाता है, जिसका इमारत के आकार से थोड़ा-बहुत सादृश्य होता है-लेकिन क्या इसे कोई अट्टालिका कहेगा ? इसमें हवा और रोशनी के प्रवेश के लिए क्या कोई व्यवस्था है ? मनुष्य के स्थाई आवास के लिए यहाँ आश्रय मिल सकता है ? क्या बाह्य संसार की गर्मी-सर्दी से यह इमारत हमारी रक्षा कर सकती है ? इसमें कोई क्रमबद्धता, कोई सौंदर्य, कोई सुषमा भी है ?

माल-मसाला प्रचुर मात्रा में जमा किया गया है इसमें संदेह नहीं; मानसिक अट्टालिका के निर्माण के लिए इतनी ईंटें पहले हमारे पास नहीं थीं । लेकिन संग्रह करना यदि सीख लें तो निर्माण करना भी सीख लिया जाता है, यह विचार ही सबसे बड़ी भूल है । वास्तव में संग्रह और निर्माण के कार्य साथ-साथ अग्रसर हों तभी इमारत बनाने का काम संपन्न हो सकता है ।

संग्रहणीय वस्तु हाथ आते ही उसका उपयोग जानना, उसका प्रकृत परिचय प्राप्त करना, और जीवन के साथ-ही-साथ जीवन का आश्रयस्थल बनाते जाना-यही है रीतिमय शिक्षा । हमारे देश में यह अजीब परिस्थिति है कि मनुष्य एक दिशा में विकसित हो रहा है तो विद्या किसी और जगह जमा होती जा रही है । एक ओर खाद्य पदार्थों से कोठरी गिरी जा रही है, तो दूसरी ओर पाचन यंत्र अपने ही रस में गला जा रहा है ।

इसलिए यदि बच्चों को मनुष्य बनाना है तो यह क्रिया बाल्यकाल से ही आरंभ हो जानी चाहिए, वरना वे सदा बच्चे ही बने रहेंगे । शैशव से ही केवल स्मरण-शक्ति पर बल न देकर उसके साथ-ही-साथ चिंतन-शक्ति और कल्पना-शक्ति को स्वाधीन रूप से परिचालित करने का भी अवसर उन्हें दिया जाना चहिए । । सवेरे से शाम तक केवल पिटाई, रटना और इम्तहान की तैयारी यथेष्ट नहीं है; इससे हम अपने बहुमूल्य खेत में सोने की फसल नहीं उगा सकते ।

हमारी नीरस शिक्षा में जीवन का बहुमूल्य समय व्यर्थ हो जाता है । हम बाल्यावस्था से

कैशोर्य में और कैशोर्य से यौवन में प्रवेश करते हैं शुष्क ज्ञान का बोझ लेकर । सरस्वती के साम्राज्य में हम मजदूरी ही करते रहते हैं । हमारी रीढ़ की हड्डी झुक जाती है, मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास नहीं होता । अंग्रेजी के भावराज्य में हम प्रवेश करते हैं, पर वहाँ हम स्वच्छंदता से विहार नहीं कर पाते । भावों को हम चाहे समझ भी लें, उन्हें अपने मर्मस्थल पर केंद्रित नहीं कर पाते। वक्तृताओं और निबंधों में चाहे हम उन भावों का प्रयोग करें, जीवन में उनकी परिणति नहीं होती।

इस तरह बीस-बाईस वर्ष की आयु तक हमें जो शिक्षा मिलती है उसका हमारे जीवन से रासायनिक मिश्रण नहीं होता । इससे हमारे मन को एक अजीब आकार मिलता है । शिक्षा से हमें जो विचार और भाव मिलते हैं उनमें से कुछ को तो लेई से जोड़कर हम सुरक्षित रखते हैं, और बचे हुए कालक्रम से झड़ जाते हैं । बर्बर जातियों के लोग शरीर पर रंग लगाकर या शरीर के विभिन्न अंगों को गोदकर, गर्व का अनुभव करते हैं; जिससे उनके स्वाभाविक स्वास्थ्य की उज्ज्वलता और लावण्य छिप जाते हैं । उसी तरह हम भी अपनी विलायती विद्या का लेप लगाकर दंभ करते हैं, किंतु यथार्थ आंतरिक जीवन के साथ उसका योग बहुत कम ही होता है । हम सस्ते, चमकते हुए, विलायती ज्ञान को लेकर शान दिखाते हैं, विलायती विचारों का असंगत रूप से प्रयोग करते हैं । हम स्वयं यह नहीं समझते कि अनजाने ही हम कैसे अपूर्व प्रहसन का अभिनय कर रहे हैं । यदि कोई हमारे ऊपर हँसता है तो हम फौरन योरोपीय इतिहास से बड़े-बड़े उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

बाल्यकाल से ही यदि भाषा-शिक्षा के साथ भाव-शिक्षा की भी व्यवस्था हो और भाव के साथ समस्त जीवन-यात्रा नियमित हो, तभी हमारे जीवन में यथार्थ सामंजस्य स्थापित हो सकता है। हमारा व्यवहार तभी सहज मानवीय व्यवहार हो सकता है और प्रत्येक विषय में उचित परिमाण की रक्षा हो सकती है । हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि जिस भाव से हम जीवन-निर्वाह करते हैं उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है । जिस घर में हमें सदा के लिए रहना है उसका उन्नत चित्र हमारी पाठ्यपुस्तकों में नहीं है । जिस समाज के बीच हमें अपना जीवन बिताना है उस समाज का कोई उच्च आदर्श हमें शिक्षा-प्रणाली में नहीं मिलता । उसमें हम अपने माता-पिता, सुहृद-मित्र, भाई-बहन किसी का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं देखते । हमारे दैनिक जीवन के कार्यकलाप को उस साहित्य में स्थान नहीं मिलता । हमारे आकाश और पृथ्वी, निर्मल प्रभात और सुंदर संध्या, परिपूर्ण खेत और देशलक्ष्मी स्रोतस्विनी का संगीत उस साहित्य में ध्वनित नहीं होता। यह सब देखकर हम समझ सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा के साथ हमारे जीवन का निबिड़ मिलन होने की कोई संभावना नहीं है । दोनों के बीच एक व्यवधान है । हमारी शिक्षा जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाती । जहाँ हमारे जीवन-वृक्ष की जड़ें हैं वहाँ से सौ गज दूर हमारी शिक्षा की वर्षा होती है । जो थोड़ा-बहुत पानी हम तक पहुँचता है वह जीवन की शुष्कता दूर करने के लिए यथेष्ट नहीं है । जिस शिक्षा को लेकर हम जीवन व्यतीत करते हैं उसकी उपयुक्तता किसी एक व्यवसाय तक ही सीमित रहती है । जिस संदूक में हम अपने दफ्तर की पोशाक रखते हैं उसी

के अंदर अपनी विद्या को भी बंद कर देते हैं । संपूर्ण जीवन के साथ उसका कोई संबंध नहीं होता । यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है । और इसके लिए, छात्रों को दोष देना अन्याय होगा । उनका ग्रंथ-जगत् एक ओर है तो वास्तव्य-जगत् दूसरी ओर । इन दोनों के बीच केवल व्याकरण-शब्दकोश का सेतु है । इसलिए हमें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि एक ही व्यक्ति एक ओर योरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्र का पंडित है तो दूसरी ओर सारे कुसंस्कारों का यत्नपूर्वक पोषण भी करता है; एक ओर स्वाधीनता के उज्ज्वल आदर्श का प्रचार करता है तो दूसरी ओर पराधीनता के शतसहस्त्र तंतुपाश से अपने को और दूसरों को प्रतिक्षण आच्छन्न भी करता है । विद्या और व्यवहार के बीच एक दुर्भेद्य व्यवधान उत्पन्न हो गया है; दोनों में सुसंलग्नता निर्मित नहीं हो पाती ।

परिणाम यह होता है कि दोनों उत्तरोत्तर एक-दूसरे के विरोधी होते जाते हैं । हमारी जो पुस्तकीय विद्या है उसकी विपरीत दिशा में जीवन को निर्देशित करते-करते हमारे मन में उस विद्या के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा का जन्म होता है । हम सोचते हैं कि वह विद्या एक सारहीन और मिथ्या वस्तु है और समस्त योरोपीय सभ्यता इसी मिथ्या पर आधारित है । जो कुछ हमारा है वह तो सत्य है और जिधर विद्या हमें ले जाती है उधर सभ्यता नामक एक मायाविनी का साम्राज्य है । हम यह नहीं देखते हैं कि विशेष कारणों से हमारे लिए यह शिक्षा निष्फल सिद्ध हुई है; बल्कि हम यह स्थिर करते हैं कि इस विद्या के अंदर स्वभावत: एक वृहत् निष्फलता विद्यमान है । इस तरह जब हम शिक्षा के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करते हैं तब शिक्षा भी हमारे जीवन से विमुख हो जाती है । हमारे चरित्र के ऊपर शिक्षा का प्रभाव विस्तृत परिमाण में नहीं पड़ता । शिक्षा और जीवन का आपसी संघर्ष बढ़ता जाता है । वे एक-दूसरे का परिहास करते हैं ।

जीवन का तिहाई हिस्सा हम जिस शिक्षा में बिताते हैं वह यदि हमारे संपूर्ण जीवन से असंलग्न हो जाए, और किसी अन्य विद्या के प्राप्त करने का अवसर हमें न मिले, तो अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने का कोई साधन हमारे पास नहीं रह जाता । इसलिए शिक्षा और जीवन में सामंजस्य निर्माण करने की समस्या आज हमारे लिए सर्वप्रधान विचारणीय विषय है ।

पहले ही कह चुका हूँ, हमारे बाल्यकाल की शिक्षा में भाषा के साथ भाव नहीं होता, और जब हम बड़े होते हैं तो परिस्थिति इसके ठीक विपरीत हो जाती है । अब भाव होते हैं, लेकिन उपयुक्त भाषा नहीं होती । इस बात का भी पहले उल्लेख कर चुका हूँ कि भाषा शिक्षा के साथ-साथ भाव-शिक्षा की वृद्धि न होने से योरोपीय विचारों से हमारा यथार्थ संसर्ग नहीं होता, और इसीलिए आजकल बहुत-से शिक्षित लोग योरोपीय विचारों के प्रति अनादर व्यक्त करने लगे हैं । दूसरी ओर, जिन लोगों के विचारों से मातृभाषा का दृढ़ संबंध नहीं होता वे अपनी भाषा से दूर हो जाते हैं और उसके प्रति उनके मन में अवज्ञा की भावना उत्पन्न होती है ।

हम चाहे जिस दिशा से देखें, हमारी भाषा, जीवन और विचारों का सामंजस्य दूर हो गया है । हमारा व्यक्तित्व विच्छिन्न होकर निष्फल हो रहा है; वह अपने बीच कोई अखंड ऐक्य

उपलब्ध करके बलिष्ठ नहीं हो पाता, जिन चीजों की उसे जरूरत है वे उसके पास नहीं हैं । कहानी है कि एक निर्धन आदमी जाड़े के दिनों में रोज भीख माँगकर गरम कपड़ा बनाने के लिए धन-संचय करता, लेकिन यथेष्ट धन जमा होने तक जाड़ा बीत जाता । उसी तरह जब तक वह गर्मी के लिए उचित कपड़े की व्यवस्था कर पाता तब तक गर्मी भी बीत जाती । एक दिन जब देवता ने उस पर तरस खाकर उसे वर माँगने को कहा तो वह बोला, 'मेरे जीवन का यह हेर-फेर दूर करो, मुझे और कुछ नहीं चाहिए । मैं जीवन भर गर्मी में गरम कपड़े और सर्दी में ठंढे कपड़े प्राप्त करता रहा हूँ । इस परिस्थिति में संशोधन कर दो - बस, मेरा जीवन सार्थक हो जाएगा ।'

हमारी प्रार्थना भी यही है । हेर-फेर दूर होने से ही हमारा जीवन सार्थक होगा । हम सर्दी में गरम कपड़े और गर्मी में ठंढे कपड़े जमा नहीं कर पाते तभी हमारे जीवन में इतना दैन्य है - वरना हमारे पास है सब-कुछ । हम विधाता से यही वर माँगते हैं - हमें क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन प्राप्त करने दो । हमारी दशा तो वैसी ही है कि :

पानी बिच मीन पियासी
मोहि सुनि-सुनि आवै हाँसी

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है । देखकर पृथ्वी के लोग हँसते हैं । आँखों से आँसू टपकते हैं, लेकिन हम प्यास नहीं बुझा पाते ।

♦ ♦ ♦

अभ्यास

पाठ के साथ

1. बच्चों के मन की वृद्धि के लिए क्या आवश्यक है ?
2. आयु बढ़ने पर भी बुद्धि की दृष्टि में वह सदा बालक ही रहेगा । कैसे ?
3. बच्चों के हाथ में यदि कोई मनोरंजन की पुस्तक दिखाई पड़ी तो वह फौरन क्यों छीन ली जाती है ? इसका क्या परिणाम होता है ?
4. ''हमारी शिक्षा में बाल्यकाल से ही आनंद का स्थान नहीं होता ।'' आपकी समझ से इसकी क्या वजह हो सकती है ?
5. हमारे बच्चे जब विदेशी भाषा पढ़ते हैं तब उनके मन में कोई स्मृति जागृत क्यों नहीं होती ?
6. अंग्रेजी भाषा और हमारी हिंदी में सामंजस्य नहीं होने के कारणों का उल्लेख करें ।
7. लेखक के अनुसार प्रकृति के स्वराज्य में पहुँचने के लिए क्या आवश्यक है ?
8. जीवन-यात्रा संपन्न करने के लिए क्या आवश्यक है ?

9. रीतिमय शिक्षा का क्या अभिप्राय है ?
10. शिक्षा और जीवन एक-दूसरे का परिहास किन परिस्थितियों में करते हैं ?
11. मातृभाषा के प्रति अवज्ञा की भावना किस तरह के लोगों के मन में उत्पन्न होती है ?
12. आशय स्पष्ट करें :-
    (क) ''हम विधाता से यही वर माँगते हैं - हमें क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन प्राप्त करने दो ।''
    (ख) ''चिंता-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों जीवन-यात्रा संपन्न करने के लिए अत्यावश्यक हैं ।''
13. वर्तमान शिक्षा प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम क्या है ?
14. अंग्रेजी हमारे लिए काम-काज की भाषा है, भाव की भाषा नहीं । कैसे ?
15. आज की शिक्षा मानसिक शक्ति का ह्रास कर रही है । कैसे ? इससे छुटकारे के लिए आप किस तरह की शिक्षा को बढ़ावा देना चाहेंगे ?

पाठ के आस-पास

1. रवींद्रनाथ टैगोर ने अपने निबंध 'शिक्षा में हेर-फेर' में भारतीय शिक्षा-पद्धति के प्रति असंतोष जाहिर किया है ! क्या आपको ऐसा लगता है कि वह असंतोषजनक है ? यदि हाँ तो क्यों ?
2. रवींद्रनाथ टैगोर भारतवर्ष के पहले साहित्यकार हैं जिन्हें उनकी कृति 'गीतांजलि' पर विश्व प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार मिला । एक साहित्यकार के रूप में उनके व्यक्तित्व पर टिप्पणी करें ।
3. शिक्षा से संबंधित उनके अन्य निबंधों को एकत्र करें एवं पढ़ें ।
4. अपने विद्यालय के पुस्तकालय से रवींद्रनाथ के निबंधों की पुस्तक उपलब्ध करें और पढ़ते हुए विचार करें कि वे किस तरह के निबंधकार हैं, उनके निबंधों के विषय क्या हैं ?

भाषा की बात

1. संधि-विच्छेद करें –
   अत्यावश्यक, यथेष्ट, स्वाधीनता, उज्ज्वल, सर्वांग, नीरस, अत्यंत, निरानंद, बाल्यावस्था
2. निम्नलिखित शब्दों के विलोम रूप लिखें –
   धर्म, कड़वी, आवश्यक, ह्रास, जीवन, उपयोग, नवीन, मानवीय, दुर्भाग्य, सबल, शाम, सरसता
3. निम्नलिखित शब्दों के पर्यायवाची लिखें –
   ईश्वर, पृथ्वी, आँख
4. निम्नलिखित शब्दों का समास विग्रह करें एवं उसके प्रकार बताएँ ।
   सत्यराज्य, वयोविकास, मातृभाषा
5. पठित पाठ से दो अकर्मक और दो सकर्मक क्रिया चुनें ।

शब्द निधि

आबद्ध : पूरी तरह बँधा हुआ
स्वाधीन : स्वतंत्र
यथेष्ट : पर्याप्त

फासले	:	दूरी
अलक्षित	:	जो देखा न गया हो
निरानंद	:	बिना आनंद
प्रफुल्ल	:	खुश, आनंदित
उन्मुक्त	:	स्वतंत्र, आजाद
संचय	:	जमा
सर्वांगचेतन	:	पूर्ण रूप से चेतन
अतिक्रमण	:	पार कर जाना
प्रकृत	:	यथार्थ, वास्तविक
प्रहसन	:	नाटक का वह रूप जिसमें उपहास उड़ाया जाता है
स्रोतस्विनी	:	नदी
वास्तव्य	:	निवास स्थान
शतसहस्रतंतुपाश	:	सैंकड़ों-हजारों बंधन

काव्यखंड

स्वर गंगा अपनों की

"जीना – सुलगना है
जागना – उमँगना है
चीन्हना – चेतना का
तुम्हारे रंग रँगना है ।"

–अज्ञेय